औपनिषद अध्यात्मतत्त्व

प्रकाश पाण्डेय, प्राचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर, भोपाल

रोचक तथ्य है कि 'आत्मा' पद अत्यन्त परिचित किन्तु उसका अर्थ गूढ़, अज्ञात एवं अवेद्य है। यह क्या वस्तु है? इसका ज्ञान पदार्थ शास्त्र की किसी विधा में सत्यापित नहीं है। ज्ञान मीमांसा के प्राच्य-पौरस्त्य सभी चिन्तन-धाराओं में भी 'आत्मा' शब्द के स्वरूपगत अर्थ पर एकमत नहीं हैं। इससे भी अधिक रोचक तथ्य है कि मानवीयज्ञानानुसन्धान के आदि से अब तक इसके स्वरूप का अनुसन्धान होता आ रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा।

पाणिनीय विधा से आत्मा शब्द का प्रातिपदिक या मूल आनुपूर्वी 'आत्मन्' है। यदि इस शब्द को प्रत्यक्ष वृत्ति की श्रेणी में मानें तो 'अत' (सातत्यगमन) अथवा आप् (व्यापनशील व्यापार) धातुओं से निष्पन्न है। अत: इसका साक्षात् अर्थ (अतति सततं गच्छति, व्याप्नोति वा) ऐसा तत्त्व जो सतत गतिमान् हो अथवा 'व्याप्त करता जा रहा हो'। यह अर्थ है। (उणादि. १/५/५३) (अत् +मनिन्-आत्मन्)। प्राचीन व्याख्याओं में (नि. ७/४) 'एक आत्मा परम देव है। एवं शेष देवगण उसके अंग हैं'। (नि. १०/२६) 'देह में इन्द्रिय, प्राण आदि से पृथक् आत्मा है एवं इन्द्रियाँ आदि उसी में विश्रान्त होती हैं'। इस प्रकार यास्क की दृष्टि से आत्मा १. व्यापनशील है २. अंगी है ३. परम चेतना है। देखा जाय तो 'सतत गमन' एवं 'व्यापनशील व्यापार' में तात्त्विक अन्तर नहीं है क्योंकि ये अर्थ अंगी या परमचेतन के लिए निरुक्त हैं।

आत्मतत्त्व के परमविचारक आचार्य शंकर 'आत्मा' पद की चार व्युत्पत्तियाँ बताते हैं

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भाव: तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।

(कठ.उ.२/१/१ भाष्य में) लिङ्ग पुराण १.७०.९६ से उद्धृत

अंगी रूप आत्मा की गूढ़ता एवं व्यापनशीलता को बृहदारण्यक उपनिषद् इस प्रकार प्रकाशित करता है-

तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्
एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद
नान्तरम्।। (बृ.४/३/२१)

प्राज्ञ आत्माभिमुख इन्द्रियादि संघातरूप पुरुष बाह्य एवं आन्तर सभी संज्ञानों से शून्यावस्था में रहता है।

गीता आत्मा को ज्ञान का अधिष्ठान कहती है–

यह अर्थ विचार के निगमन से लभ्य है। छान्दोग्य उपनिषद् शरीर, प्राण, इन्द्रिय एवं मन को आत्मा कहता है किन्तु ब्रह्मलोकस्थित देवों द्वारा आत्मा (व्यापनशील ब्रह्म) की उपासना का वर्णन भी करता है (८/१२) आत्मा में ८ गुण होते हैं– वह निष्पाप, अजर, अमर, क्षोभहीन या अचल, बुभुक्षाहीन, पिपासाहीन, सत्यकाम, सत्यसंकल्प। (छा.८/७, ८/१)

कठोपनिषद् ने स्पष्टरूप से घोषित कर दिया कि आत्मा ज्ञान के साधनों के लिए अज्ञेय है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्
(कठ.१/२/२३। मुण्ड. ३/२/३)

आत्मा को उपनिषदों ने व्यष्टि एवं समष्टि दो स्वरूपों में समझाया है। समष्टि रूप इस प्रकार है

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। गी., ६/२९

विश्व के सभी उत्पन्न पदार्थ आत्मा में स्थित हैं।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। (श्वे.६/११)

एक तत्त्व सब में व्याप्त है त्रिगुण रहित एवं साक्षी है।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्। (श्वे. ३/२१)

आत्मा अजर अजन्मा सर्वगत एवं प्राचीन है।

व्यष्टि आत्मा–

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
(कठ. १/२/२०, मुण्डक ३/२०)

सूक्ष्मातिसूक्ष्म किन्तु सबसे बड़े से भी बड़ा आत्मा जन्तु की गुहा में निहित है। गुहा को हृदय से एकीकृत कर सकते हैं क्योंकि–

स वा एष आत्मा हृदि। तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति हृदयम्। (छा. ८/३/३)

आत्मा हृत् में है अत: 'हृदि अयं' (आत्मा) इस निर्वचन से हृदय पद का अर्थ ज्ञात होता है। इस प्रकार आत्मा–शरीर, प्राण इन्द्रियाँ, चेतना बुद्धि का द्योतक है। उसमें व्याप्त होकर प्रकाशित है। व्यष्टि रूप में इन्द्रिय एवं मन से मुक्त होकर भोक्तृभाव में प्रतिष्ठित होता है (कठ. १/३/४)। इस भोक्तृभाव की पाँच श्रेणियाँ हैं– अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इनमें भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म एवं पूर्व–पूर्व के प्रति अन्तरंग होती हैं। (तै. २/१–५)

अन्नमय की अपेक्षा प्राणमय अन्तरंग है। मनोमय इन दोनों के प्रति, विज्ञानमय पूर्व के तीनों के प्रति एवं आनन्दमय सभी में अन्तरंग है।

व्यष्टि रूप में आत्मा नाम रूप एवं कर्म का सम्मिलित रूप है अथवा ये तीनों आत्मा में लीन है। **त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म... तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एक: सन्नेतत् त्रयम्...। (बृ.१/६/१–३)।** व्यष्टि आत्मा वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय भी कहा गया है। कर्म एवं नाम से प्रतिशरीर आत्मा की व्यवस्था है। शारीर आत्मा में प्राणों का सहकार अनिवार्य है। अन्यथा विमर्श असंभव होगा–

दश इमे पुरुषे प्राणा आत्मा एकादश। (बृ. ३/९/४)

अर्थात् व्यष्टि पुरुष प्राण एवं आत्मा का संघात है। व्यष्टि के कर्तृभाव में विज्ञानमय आत्मा का प्राधान्य है (बृ. ४/४/२२)। योऽयमात्मा विज्ञानमय:। कर्मकर्तृत्व एवं ज्ञानकर्तृत्व का अधिष्ठाता स्व के लिए करणों के उपयोग में अक्षम है, अत: प्रमाणवेद्य नहीं है–

स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न हि गृह्यते। (बृ. ४/२/४, ४/४/२२)।

२. इस प्रकार के अगम्य अर्थों से परिपूर्ण 'आत्मन्' शब्द में विभक्त्यर्थक 'अधि' अव्यय के योग से अव्ययीभाव समास होकर अध्यात्म पद निष्पन्न होता है। इसका मूलभूत अर्थ होगा–

'आत्मसम्बन्धी' 'आत्मनि इति अध्यात्मम्' आत्मा में, आत्मने–आत्मा के लिए, आत्मना–आत्मा के द्वारा एवं आत्मन:– आत्मा का, यह अर्थ प्रकट करता है।

उपनिषदों में 'आत्मा' शब्द की विभिन्न अभिव्यक्तियों को पूर्व प्रतिपादित किया गया है तदनुसार 'अध्यात्म' पद की तात्त्विक अभिव्यक्तियों को समझने का प्रयास किया जा सकता है।

सर्वोपनिषत्सार श्रीगीता स्व–भाव को अध्यात्म का पार्यन्तिक अर्थ कहती है–

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्ग: कर्मसंज्ञित:।। गीता, ८/३

'स्वभाव' शब्द पारिभाषिक है। आचार्य शंकरकृत भाष्य के अनुसार अपने अस्तित्व = स्व का भाव = सत्ता बोध अध्यात्म पद का साक्षात् अर्थ है– **स्वो भाव: स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।**

आचार्य इस मूल अर्थ को विस्तृत करते हैं– देह को अधिकृत करके सर्वव्यापक रूप में प्रवृत्त वस्तु जिसका पर्यवसान ब्रह्म रूप परम अर्थ में होता है **स्वभाव** कहते हैं। यहाँ आत्मा का अर्थ देह एवं 'अधि' अधिकार का वाचक है। अत: देह को अधिकरण बना कर प्रत्यक् = सर्वव्यापी भाव में प्रवृत्त ब्रह्म पर्यवसायी वस्तु का नाम स्वभाव है एवं उसी का पर्याय अध्यात्म है।

इनके टीकाकार आनन्द गिरि इस प्रकार बताते हैं–

स्वकीयो भाव: स्वभाव: श्रोत्रादिकरणग्राम: स चात्मनि देहे अहं – प्रत्ययवेद्यो वर्तत इत्यमुं प्रतिभासं व्यावर्त्य स्वभावपदं गृह्णाति।

'स्व का भाव' इसका तात्पर्य है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार– इन चौदह करणसमूहों का नाम स्वभाव है या अध्यात्म है। इन करणों की व्यक्ति देह में होती है अत: यह आभास संभव है कि 'अहं' इस ज्ञान का विषय देह है, इस आभास के व्यावर्तन के लिए 'स्वभाव' पद का प्रयोग हुआ है इसलिए शुद्ध आत्मा को 'स्वभाव' पद का अर्थ मानना चाहिए। यद्यपि स्थूलशरीर की जीवित सत्ता में स्व के अस्तित्व का भाव स्वभाव है। किन्तु तद्भिन्न प्रत्यक् सत्ता आत्मरूप पारमार्थिक स्वभाव या अध्यात्म है।

श्री गीता के इसी स्थल की अन्य सांप्रदायिक व्याख्याओं में भी अध्यात्म का अर्थ जब वस्तु स्वभाव के रूप में लिया गया है तब उसे इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण आदि से पृथक् रूप में अध्यात्म संज्ञा दी है। रामानुज, मध्व, वल्लभ आचार्यों की टीकाएँ इसका प्रमाण हैं। अध्यात्म के दो अर्थ अभिप्रेरक रहे हैं।

१. आत्मा में जो निविष्ट हो।

२. जो वस्तु आत्मा स्वाधिकार में ले ले दोनों अध्यात्म पद वाच्य होंगे। इस प्रकार

स्वभाव के भी दो रूप हैं–

१. स्व व्यष्टि जीव, उसका भाव, अन्त:करण से देह पर्यन्त क्षेत्र।

२. स्व ही भाव है जिसका = जीव स्वयं स्वभाव है।

जीव एक रस रहता है अत: स्वभावपद भाक् है किन्तु सभी करण एक रस नहीं रहते परिणामी होते हैं अत: स्व में स्थित न होने से स्वभावपद की प्रतिष्ठा से हीन हैं। अत: व्यष्टि अध्यात्म जीव स्वभाव है।

ब्रह्मसूत्र, १.१.२८

'न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्'

में उपस्थित अध्यात्म पद को ब्रह्मपरक प्रत्यगात्मपरक या शुद्धचेतन परक स्वीकार किया गया है–

अध्यात्मसंबन्ध: प्रत्यगात्मसंबन्ध:, तस्य भूमा बाहुल्यम्
अस्मिन्नध्याये उपलभ्यते।। (शां. भा.)

इस प्रकार 'अध्यात्म' पद के पारमार्थिक प्रत्यगात्म अर्थ को समझते हुए हम इस संप्रत्यय के मूल उद्गमस्थल उपनिषत् की व्याख्याओं का अध्ययन करके अध्यात्म का तत्त्वानुसंधान करने में प्रवृत्त हो सकते हैं।

अध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव मन:।। ४/५

यहाँ गतिस्वभाव मन को अध्यात्म विषय कहा जाना आत्मन् के गतिशीलार्थकता को चरितार्थ करता है। एवं करणसंघात में से अन्यतर मन के आन्तरत्व के कारण अध्यात्म के क्षेत्र में संकल्पोन्मुख मन का परिगणन दिखाई पड़ता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में वाङ्मय संहिता (वर्णों का एकीकरण) को पाँच अधिकरणों में विभक्त करके उसकी विश्वरूपता को विवृत किया है– वे पाँच अधिकरण इस प्रकार हैं–

अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्।
ता महासंहिता इत्याचक्षते। तै.उ.१/३

इन अधिकरणों में चरम अधिकरण 'अध्यात्म' है।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनु: पूर्वरूपम्।
उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधि:।
जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्। तै.उ. १/३/५

वाक् संहिता का अध्यात्मरूप का जो विवरण तैत्तिरीयशिक्षावल्ली दे रही है, वह वाक् के उच्चारण को विषय बना कर दे रही है अत: यहाँ पर आत्मा पद का अर्थ शरीर लेते हुए संहिता के अध्यात्म अधिकरण का व्याख्यान संगत है। इसी प्रकार सप्तम अनुवाक् में छन्द: स्वरूप वाक् के अध्यात्म का विवरण पुन: देहात्म के तत्त्वों के माध्यम से दिया है।

अथाध्यात्मम्।
प्राणो व्यानोऽपान उदान: समान:। चक्षु: श्रोत्रं मनो वाक्त्वक्।
चर्म मांसं स्नावास्थिमज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्।। तै.उ.१.७.१

छान्दोग्य उपनिषद् में अध्यात्म के व्याख्यान का केन्द्र प्राण एवं अन्य इन्द्रिय आदि करण हैं।

अथाध्यात्मम्।
य एवायं मुख्य: प्राण:।
तमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्येष स्वरन्निति। छा. १/५/३

ऊँकार या उद्गीथ की उपासना का प्रकरण है। उसके वाङ्मय रूप का अध्यात्म स्वरूप का निर्णय करते हुए मुख में स्थित प्राण को उसका रूप कहा क्योंकि उसी से ओंकार उच्चरित हो रहा है।

मनस् के निदिध्यासन या उपासना का उपदेश करते हुए उपनिषद् कहती है–

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो
ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च।। छाँ. ३.१८.१।।

मन पूर्णत: आन्तर वस्तु है अत: उसकी उपासना अध्यात्म विज्ञान ही है। उसका बाह्य देह से सम्बन्ध नहीं है अत: ऋषि प्रकाशित करते हैं कि यह अध्यात्मविषय मन '**तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। वाक् पाद: प्राण: पादश्चक्षु: पाद: श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्।' (छां. ३.१८.२)**

इस मन के अध्यात्म रूप में चतुष्पाद होते हैं। प्रथम पाद–वाक्, द्वितीय पाद– प्राण, तृतीय पाद– चक्षु, चतुर्थ पाद– श्रोत्र। ध्यातव्य है कि ये व्यपदेश केवल उपासक के लिए हैं सामान्य मानव मन को चतुष्पादात्मक देखने का सामर्थ्य नहीं रखता। जब सर्वविध वरण करने वाले वायु के उपासना का प्रकरण है तब वायु के अध्यात्मरूप का प्रकाशन ऋषि ने इस प्रकार किया है।

अथाध्यात्मम्। प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति। प्राणमेव वागप्येति। प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्त।।इति।। छां. ४/३/३

आत्माधिकरण, स्वाधिकार या देहाधिकार के प्रकरण में प्राण वायु ही संवर्ग है सभी सम्बद्ध को व्याप्त करता है। उसका संवर्जन वाला रूप स्वापकाल में स्फूर्त होता है। वाक् के सभी रूपों को प्राण व्याप्त करता है। स्वाप काल में प्राण चक्षु, श्रोत्र, मन इन सभी का संवर्जन करता है। इस प्रकरण में भी 'अध्यात्म' को सकरण देह अर्थ में लिया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म के दो स्वरूपों की व्याख्या करता है–

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।। बृ. २/३/१

ब्रह्म के मूर्त एवं अमूर्त दो रूप होते हैं। एक नश्वर दूसरा अनश्वर अमृत।

स्थित = मर्यादित है, सत्तावान् है अनश्वर है।

इसी प्रकरण में ब्रह्म के अध्यात्म रूप को प्रकाशित किया गया है–

अथाध्यात्मम्। इदमेव मूर्तं यदन्यत् प्राणच्च यश्चायमन्तराकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एव रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः।। बृह. २/३/४

अध्यात्म प्रकरण में मूर्त ब्रह्म प्राण से अतिरिक्त अन्तराकाश रूप है यह आन्तर आकाश मूर्त है सीमित है मरणधर्मा है। इस मूर्त सीमित मरणशील ब्रह्म का तत्त्व चक्षु या ग्राहकत्व है। यहाँ चक्षु का प्रयोग एक इन्द्रिय विशेष करना उचित नहीं है अपितु ग्राहकत्व सामर्थ्य समझना चाहिए।

इस प्रकरण में क्योंकि शरीर स्वयं नाशवान् है अतः मूर्त ब्रह्म के तत्त्व मूर्त ग्राहक का नाशवान् होना संभव है।

अध्यात्म के इस प्रकरण में ब्रह्म को अन्तराकाश बताया जाना प्राणभिन्न कहना यह भी द्योतित करता है कि आत्मा या स्व को व्यक्त देह या करणसंघात तक सीमित नहीं रखना चाहते अपितु एक अज्ञात तत्त्व से तादात्म्य करना चाहते हैं। इसी उपनिषद् में मधुविधा के प्रकरण में द्वितीय अध्याय पञ्चम ब्राह्मण में अध्यात्म का विस्तृत वर्णन है। ऋषि आरम्भ करते हैं कि–

यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमय: अमृतमय: पुरुष: .....बृ.२/५/१–२३

पृथिवी पर जो अमृतमय तेजोमय पुरुष वस्तु है वह अध्यात्मरूप में शरीरनिष्ठ, शुक्रनिष्ठ, वाङ्मय, प्राणरूप श्रोत्रमय, मानस तैजस, शाब्द चाक्षुष, हृदयाकाशरूप, धर्ममय, सत्यमय, मानुष रूप है।

बृहदारण्यक उपनिषद् तृतीय अध्याय का सप्तम ब्राह्मण अन्तर्यामिब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है। एक कथा के माध्यम से महाभूतों में स्थित अधिभूत अन्तर्यामी का वर्णन करने के पश्चात् अध्यात्म अन्तर्यामी का विवरण है–

यह अध्यात्म अन्तर्यामी प्राण, वाक् चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान एवं रेतस् में स्थित है। उनका नियामक आत्मा है, वही अन्तर्यामी है।

इस प्रकार अध्यात्म उपनिषदों में भी क्रमश: सूक्ष्म अवधारणा के रूप में उद्घाटित होता हुआ दिखाई देता है। कठोपनिषद् का अध्यात्म योग (क.१/२/१२) स्पष्टत: आत्मा का अर्थ चेतन ही द्योतित करता है। औपनिषद अध्यात्म तत्त्व में वस्तु स्वरूप को अनुभव के निकट या अनुभव योग्य रूप प्रकाशित करने की शैली का निदर्शन होता है। आत्मा से यदि शरीर मात्र कहा जाय तब भ्रान्ति होगी कि शरीर बाल, युवा, वृद्ध रूप में भेद ग्रहण करता है अत: आत्मा भी बालादि व्यपदेशभाक् होगी, शरीर निर्जीव सजीव निर्मित निर्मीयमाण अविकृत विकृत आदि भेदों से अनेकधा होता है किन्तु इन रूपों में आत्मा का स्फुरण अनुभव विरुद्ध है। यही बात इन्द्रियों, प्राण आदि करणों एवं अन्त:करणों पर भी संगत होती है। अत: अध्यात्म वस्तु को प्रत्यक् तत्त्व से सम्बद्ध करना उपनिषदों का प्रतिपाद्य प्रतीत होता है।